8

इण्डो-इस्लामिक वास्तुकला के कुछ कलात्मक पहलू

ईसा की सातवीं तथा आठवीं शताब्दी में इस्लाम धर्म स्पेन और भारत की ओर फैला। भारत में इस्लाम विशेष रूप से मुस्लिम सौदागरों, व्यापारियों, धर्मगुरुओं और विजेताओं के साथ आया, जो यहां लगभग छह सौ वर्षों तक समय-समय पर आते रहे। वैसे तो मुस्लिम लोगों ने ईसा की आठवीं शताब्दी से ही सिंधु, गुजरात आदि प्रदेशों में इमारतें, निर्माण बनाने का काम शुरू कर दिया था, मगर बड़े पैमाने पर भवन निर्माण का कार्य ईसा की तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ में तुर्कों का शासन स्थापित हो जाने के बाद ही शुरू हुआ, जब उन्होंने उत्तर भारत को जीतकर दिल्ली सल्तनत की स्थापना की।

बारहवीं शताब्दी तक भारत भव्य परिवेश में विशाल भवन बनाने की प्रक्रिया से पूरी तरह परिचित हो चुका था। उस समय यहां भवन निर्माण और अलंकरण की अनेक विधियाँ प्रचलित और लोकप्रिय हो चुकी थीं, जैसे—शहतीरों, टोडों और अनेक खंभों के सहारे छतों का निर्माण, चाप, मेहराब, डाट, तोरण आदि का निर्माण। चापें, लकड़ी और पत्थर की बनाई जाती थीं, इसलिए ये ऊपर के ढांचे के बोझ को सहने-उठाने के लिए पूरी तरह सक्षम नहीं होती थीं। किन्तु अब गुंबदों का बोझ उठाए रखने के लिए ढोलदार चापों/मेहराबों की जरूरत पड़ी। ऐसे मेहराबों को डाट पत्थर से चापबंध के माध्यम से बनाया जाता था। लटकती हुई बगली डाट पर बने गुम्बद के अंदर खम्भे न होने के कारण जगह ज्यादा हो गई।

इन देशांतरणों और विजयों पर एक ध्यान देने योग्य पहलू यह रहा कि मुस्लिम शासकों ने स्थानीय सामग्रियों, संस्कृतियों और परंपराओं को अपने साथ लाई गई तकनीकों के साथ अपना लिया। उन्होंने इन तकनीकों को देखा-परखा, कुछ को स्वीकार, कुछ को अस्वीकार किया और कुछ को यथोचित परिवर्तन के साथ अपना लिया। इस प्रकार, वास्तुकला के क्षेत्र में अनेक संरचनात्मक तकनीकों, शैलियों, रूपों और साज-सज्जाओं का मिश्रण तैयार हो गया। इस मिश्रण के फलस्वरूप भवन निर्माण की जो तकनीकें अस्तित्व में आईं, उन्हें सामूहिक रूप से इण्डो-इस्लामिक, इंडो-सारसेनिक (इंडो आरबिक) वास्तुकला कहा जाता है।

हिंदू यह मानते हैं कि परमेश्वर नाना रूपों में सर्वत्र व्याप्त है, जबकि मुस्लिम धर्मानुयायी यह सोचते हैं कि अल्लाह एक है और मुहम्मद उनके पैगम्बर हैं। अत: हिंदू हर प्रकार की सतहों पर प्रतिमाओं और चित्रों को सराहते हैं। मुस्लिमों को किसी भी सजीव रूप की, किसी भी सतह पर प्रतिकृति बनाना मना है इसलिए उन्होंने प्लास्टर या पत्थर पर 'अरबस्क' यानी बेल-बूटे का काम, ज्यामितीय प्रतिरूप और सुलेखन की कलाओं का विकास किया।

कुतुब मीनार, दिल्ली

© NCERT not to be republished

संरचनाओं के रूपाकार

अब इस बुनियादी जानकारी के बाद इण्डो-इस्लामिक वास्तुकला की कहानी आगे बढ़ती है। भारत में मुस्लिम आगमन के समय यहाँ धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष, दोनों प्रकार की वास्तुकला विद्यमान थी। उसमें मुस्लिम शासकों तथा संपन्न लोगों द्वारा अनेक प्रकार के छोटे-बड़े भवन जोड़े जाने लगे, जैसे—रोजमर्रा की इबादत के लिए मस्जिदें और जामा मस्जिद, मकबरे, दरगाहें, मीनारें, हमाम, सुनियोजित बाग-बगीचे, मदरसे, सरायें या कारवाँ सरायें, कोस मीनारें आदि।

विश्व के अन्य भागों की तरह, भारत में भी वास्तुकलात्मक भवन ऐसे लोगों द्वारा बनाए गए थे जिनके पास धन इकट्ठा हो गया था। उतरते क्रम में देखें तो वे शासक और सामंत तथा उनके परिवार, सौदागर, व्यापारी और उनकी श्रेणियाँ, ग्रामीण संभ्रांत वर्ग और किसी पंथ के अनुयायीगण थे। इण्डो-इस्लामिक वास्तुकला पर सीरियाई, फारसी और तुर्की प्रभाव तो स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं लेकिन भारतीय वास्तुकलात्मक तथा आलंकारिक शैलियों तथा सोचों ने भी इण्डो-इस्लामिक संरचना तथा निर्माण कार्यों को अत्यधिक प्रभावित किया। इसके अलावा सामग्रियों की उपलब्धता, संसाधनों तथा कौशलों की परिसीमा और संरक्षकों की सौंदर्यानुभूति ने भी इस वास्तुकला पर पर्याप्त प्रभाव डाला। अन्य देशों की तरह मध्यकालीन भारत के लोगों के लिए धर्म और धार्मिकता बहुत महत्वपूर्ण थे, फिर भी उन्होंने दूसरों के वास्तुकलात्मक तत्वों को उदारतापूर्वक अपनाया।

शैलियों के प्रकार

इण्डो-इस्लामिक वास्तुकला को परंपरा की दृष्टि से कई श्रेणियों में बांटा जाता है जिनके नाम हैं—शाही शैली (दिल्ली सल्तनत), प्रान्तीय शैली (मांडु, गुजरात, बंगाल और जौनपुर), मुगल शैली (दिल्ली, आगरा और लाहौर) और दक्कनी शैली (बीजापुर, गोलकोंडा)। ये श्रेणियाँ वास्तुकलात्मक कार्यों की विशिष्टताओं को ध्यान में रखते हुए बनाई गई हैं, इसलिए इन्हें अपरिवर्तनीय खांचों में बांधकर नहीं रखा जा सकता।

जटिल जाली का काम, आमेर किला, जयपुर

© NCERT not to be republished

उदारतापूर्वक ग्रहण और प्रभाव

प्रान्तीय शैलियों में, बंगाल और जौनपुर की वास्तुकला को अलग माना जाता है। गुजरात की वास्तुकला का एक अलग क्षेत्रीय स्वरूप था, क्योंकि उसके संरक्षकों ने मकबरों, मस्जिदों और दरगाहों के लिए क्षेत्रीय मंदिर परंपराओं के कई तत्व अपना लिए थे, जैसे कि तोरण, मेहराबों में सरदल, लिंटल, घंटी और जंजीर के नमूनों का उत्कीर्णन और उत्कीर्णित फलक जिनमें वृक्ष उकेरे गए थे। इसके विपरीत, सरखेज के शेख अहमद खट्टू की पंद्रहवीं शताब्दी में सफेद संगमरमर से बनी दरगाह ने रूप और साज-सज्जा में मुगल मकबरों को बहुत प्रभावित किया।

अन्य सज्जात्मक रूप

इन रूपों में कटाव, उत्कीर्णन या गचकारी के जरिए प्लास्टर पर डिजाइन कला शामिल है। इन डिजाइनों को सादा छोड़ दिया जाता था या उनमें रंग भरे जाते थे। नमूने पत्थर पर पेंट किए जाते थे या पत्थर में उकेरे जाते थे। इन नमूनों में तरह-तरह के फूल शामिल थे। ये फूल उपमहाद्वीप में और बाहरी स्थानों पर खासतौर पर ईरान में लगते थे। चापों/मेहराबों के भीतरी मोड़ों में कमल की कली के नमूने बनाए जाते थे। दीवारों को भी सरू, चिनार और अन्य वृक्षों तथा फूलदानों से सजाया जाता था। भीतरी छत को सजाने के लिए फूलों के अनेक मिश्रित नमूनों को काम में लिया जाता था। इनकी डिज़ाइनें कपड़ों और गलीचों पर भी पाई जाती थीं। चौदहवीं, पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में, दीवारों और गुंबदों की सतहों पर टाइलें भी लगाई जाती थीं। उस समय लोकप्रिय रंग नीला, फिरोजी, हरा और पीला थे। उसके बाद सतही सजावट के लिए खासतौर पर दीवारों के हाशियों के लिए चारखाना या चौपड़ पच्चीकारी की तकनीक का इस्तेमाल किया जाने लगा। कभी-कभी भीतरी दीवारों और चंदोवों पर लाजवर्द मणि (लेपिस लेजुली) का भी प्रयोग किया जाता था। अन्य किस्म की सजावटों में अरबस्क यानी बेलबूटे के काम, सुलेखन और ऊंचे तथा नीचे उभारदार उत्कीर्णन शामिल थे। जालियों का प्रयोग भी बहुतायत से होता था। उच्च उभारदार उत्कीर्णन त्रि-आयामी जैसा दिखाई देता था। चापें, मेहराबें सादी और सिमटी हुई थीं और कभी-कभी ऊँची और तीखी भी होती थीं। सोलहवीं शताब्दी और उससे आगे चापें तिपुलिया या बहुत-से बेल-बूटों वाली बनाई जाने लगीं। चापों के स्कन्ध गोल आभूषणों या उभरवां नक्काशी से सजे होते थे। व्योमरेखा केंद्रीय गुम्बद एवं अन्य छोटे गुम्बदों, छत्रियों और छोटी-छोटी मीनारों का मिला-जुला दृश्य प्रस्तुत करती थीं। केंद्रीय गुंबद की चोटी पर एक उलटे कमल पुष्प का नमूना और एक धातु या पत्थर का कलश होता था।

दीवार पर डैडो पैनल, आगरा

पिएत्रा द्यूरा का काम, आगरा

© NCERT not to be republished

भवन-निर्माण की सामग्री

भवन निर्माण के लिए सबसे अधिक लोकप्रिय मसाला (सामग्री) रोड़ी कंकड़ आदि से चिनाई करने का मिलावन था। उस समय के सभी भवनों की दीवारें काफी मोटी होती थीं। इन दीवारों को चुनने के बाद उन पर चूने की लिपाई की जाती थी या पत्थर के चौके जड़े जाते थे। निर्माण के काम में कई तरह के पत्थरों का इस्तेमाल होता था, जैसे—स्फटिक, बलुआ पत्थर, पीला पत्थर, संगमरमर आदि। दीवारों को अंतिम रूप देने तथा आकर्षक बनाने के लिए बहुरंगी टाइलों का प्रयोग किया जाता था। सत्रहवीं शताब्दी के शुरू होते-होते भवन निर्माण के कार्य में ईंटों का भी प्रयोग होने लगा। इनसे निर्माण कार्य में अधिक सरलता और नम्यता आ गई। इस चरण की मुख्य बात यह थी कि स्थानीय सामग्रियों पर निर्भरता बढ़ गई।

किला/दुर्ग

ऊंची-मोटी प्राचीरों, फसीलों व बुर्जों के साथ विशाल दुर्ग, किले बनाना मध्यकालीन भारतीय राजाओं तथा राजघरानों की विशेषता थी, क्योंकि ऐसे अभेद्य किलों को अक्सर राजा की शक्ति का प्रतीक माना जाता था। जब ऐसे किलों को आक्रमणकारी सेना द्वारा अपने कब्जे में कर लिया जाता था तो पराजित शासक की संपूर्ण शक्ति और प्रभुसत्ता उससे छिन जाती थी क्योंकि उसे विजेता राजा के आधिपत्य को स्वीकार करना पड़ता था। इस तरह के कई दुर्भेद्य, विशाल और जटिल दुर्ग चित्तौड़, ग्वालियर, देवगिरि/दौलताबाद और गोलकुण्डा में पाए जाते हैं जिन्हें देखकर दर्शक दंग रह जाते हैं और उनकी कल्पनाशक्ति कुंठित पड़ती दिखाई देती है।

दुर्गों के निर्माण के लिए पहाड़ों की प्रभावशाली ऊंचाइयों का उपयोग अधिक लाभप्रद समझा जाता था। इन ऊंचाइयों के कई फायदे थे, जैसे—इन पर चढ़कर संपूर्ण क्षेत्र को दूर-दूर तक देखा जा सकता था। सुरक्षा की दृष्टि से भी ये ऊंचाइयाँ सामरिक महत्व रखती थीं। उनमें आवास और दफतरी भवन बनाने के लिए बहुत खाली जगह होती थी और सबसे बड़ी बात तो यह कि इनसे आम लोगों तथा आक्रमणकारियों के मन में भय पैदा होता था। ऐसी ऊँचाइयों पर बने किलों के और भी कई

दौलताबाद के किले का हवाई दृश्य

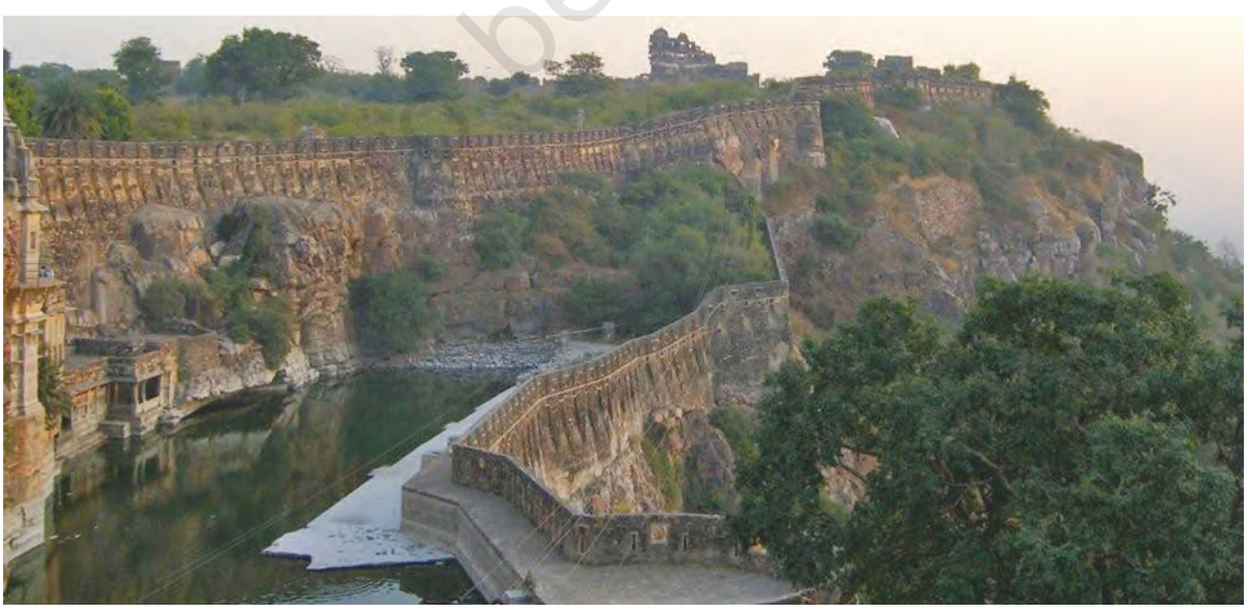

© NCERT not to be republished

ग्वालियर का किला

फायदे थे जिनमें से एक यह था कि किले के चारों ओर, बाहरी दीवारों के एक के बाद एक कई घेरे बनाए जाते थे जैसा कि गोलकुण्डा में देखने को मिलता है। इन बाहरी दीवारों को तोड़कर भीतर किले में पहुंचने के लिए शत्रु सेना को स्थान-स्थान पर लड़ाई लड़नी होती थी।

दौलताबाद के किले में शत्रु को धोखे में डालने के लिए अनेक सामरिक व्यवस्थाएँ की गई थीं, जैसे— उसके प्रवेश द्वार दूर-दूर पर टेढ़े-मेढ़े ढंग से बेहद मजबूती के साथ बनाए गए थे जिन्हें हाथियों की सहायता से भी तोड़ना और खोलना आसान नहीं था। यहां एक के भीतर एक यानी दो किले बनाए गए थे जिनमें दूसरा किला पहले किले की अपेक्षा अधिक ऊंचाई पर बनाया गया था और उस तक पहुंचने के लिए एक भूल-भुलैया को पार करना पड़ता था और इस भूल-भुलैया में लिया गया एक भी गलत मोड़ शत्रु के सैनिकों को चक्कर में डाल देता था या सैकड़ों फुट नीचे खाई में गिराकर मौत के मुंह में पहुंचा देता था।

ग्वालियर का किला इसलिए अजेय माना जाता था क्योंकि इसकी खड़ी ऊँचाई एकदम सपाट थी और उस पर चढ़ना असंभव था। इसे आवास की व्यवस्था के अलावा और भी कई कामों में लिया जाता था। बाबर को वैसे तो हिंदुस्तान की बहुत-सी चीजों में कोई अच्छाई नहीं दिखाई दी, पर वह भी ग्वालियर के किले को देखकर भयभीत हो गया था। चित्तौड़गढ़ को एशिया का सबसे बड़ा किला माना जाता है और यह सबसे लंबे समय तक शक्ति का केंद्र बना रहा। इसमें कई तरह के भवन हैं जिनमें से कुछ विजय एवं वीरता के स्मारक स्तंभ एवं शिखर हैं। इसमें अनेक जलाशय हैं। इस किले के प्रधान सेनापतियों तथा सैनिकों के साथ अनेक वीरगाथाएँ जुड़ी हैं। इसके अलावा इसमें ऐसे कई स्थल हैं जो यहां के नर-नारियों के त्याग-तपस्या और बलिदान की याद दिलाते हैं। इन सभी किलों का एक दिलचस्प पहलू यह है कि इनमें स्थित राजमहलों ने अनेक शैलियों के आलंकारिक प्रभावों को बड़ी उदारता के साथ अपने आप में संजो रखा है।

© NCERT not to be republished

चाँद मीनार, दौलताबाद

मीनारें

स्तंभ या गुम्बद का एक अन्य रूप मीनार थी, जो भारतीय उपमहाद्वीप में सर्वत्र पायी जाती है। मध्य काल की सबसे प्रसिद्ध और आकर्षक मीनारें थीं—दिल्ली में कुतुब मीनार और दौलताबाद के किले में चाँद मीनार। इन मीनारों का दैनिक उपयोग नमाज या इबादत के लिए अज़ान लगाना था। तथापि इसकी असाधारण आकाशीय ऊंचाई शासक की शक्ति का प्रतीक थी जो उसके विरोधियों के मन में भय पैदा करती रहती थी, चाहे वे विरोधी समानार्थी हों या अन्य किसी धर्म के अनुयायी।

कुतुब मीनार का संबंध दिल्ली के संत ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी से भी जोड़ा जाता है। तेरहवीं सदी में बनाई गई यह मीनार 234 फुट ऊंची है। इसकी चार मंजिलें हैं जो ऊपर की ओर क्रमश: पतली या संकरी होती चली जाती हैं। यह बहुभुजी और वृत्ताकार रूपों का मिश्रण है। यह अधिकतर लाल और पांडु रंग के बलुआ पत्थर की बनी है, अलबत्ता इसकी ऊपरी मंजिलों में कहीं-कहीं संगमरमर का भी प्रयोग हुआ है। इसकी एक विशेषता यह है कि इसके बारजे अत्यंत सजे हुए हैं और इसमें कई शिलालेख हैं जिन पर फूल-पत्तियों के नमूने बने हैं।

चाँद मीनार जो पंद्रहवीं सदी में बनाई गई थी, 210 फीट ऊँची है। इसकी चार मंजिलें हैं जो ऊपर की ओर क्रमश: पतली होती चली जाती हैं। अब यह आड़ू रंग से पुती हुई है। इसका बाहरी भाग कभी पकी हुई टाइलों पर बनी द्विरेखीय सज्जापट्टी और बड़े-बड़े अक्षरों में खुदी कुरान की आयतों के लिए प्रसिद्ध था। यद्यपि यह मीनार एक ईरानी स्मारक की तरह दिखाई देती है, लेकिन इसके निर्माण में दिल्ली और ईरान के वास्तुकलाविदों के साथ-साथ स्थानीय वास्तु कलाकारों का भी हाथ था।

मकबरे

शासकों और शाही परिवार के लोगों की कब्रों पर विशाल मकबरे बनाना मध्य कालीन भारत का एक लोकप्रिय रिवाज़ था। ऐसे मकबरों के कुछ सुप्रसिद्ध उदाहरण हैं—दिल्ली स्थित गयासुद्दीन तुगलक,

इतमादुद्दौला का मकबरा, आगरा

© NCERT not to be republished

हुमायूँ, अब्दुर्रहीम खानखाना और आगरा स्थित अकबर व इतमादुद्दौला के मकबरे। मकबरा यह सोचकर बनाया जाता था कि मज़हब में सच्चा विश्वास रखने वाले इन्सान को कयामत के दिन इनाम के तौर पर सदा के लिए जन्नत (स्वर्ग) भेज दिया जाएगा जहां हर तरह का ऐशोआराम होगा। इसी स्वर्ग प्राप्ति की कल्पना को लेकर मकबरों का निर्माण किया जाने लगा। शुरू-शुरू में तो इन मकबरों की दीवारों पर कुरान की आयतें लिखी जाती थीं मगर आगे चलकर इन मकबरों को स्वर्गीय तत्वों के बीच में, जैसे—बाग-बगीचों के भीतर या किसी जलाशय या नदी के किनारे बनाया जाने लगा जैसा कि हम हुमायूँ के मकबरे और ताजमहल के मामले में पाते हैं, जहां ये दोनों चीजें पाई जाती हैं। यह तो निश्चित है कि इतनी बड़ी-बड़ी और शानदार इमारतें दूसरी दुनिया में शांति और खुशी पाने भर के लिए नहीं बनाई जा सकतीं, इसलिए इनका उद्देश्य दफनाए गए व्यक्ति की शान-ओ-शौकत और ताकत का प्रदर्शन करना भी रहा होगा।

सरायें

मध्यकालीन भारत की एक अत्यंत दिलचस्प परंपरा सराय बनाने की भी थी जो भारतीय उपमहाद्वीप में शहरों के आसपास यत्र-तत्र बनाई जाती थीं। सरायें आमतौर पर किसी वर्गाकार या आयताकार भूमि खंड पर बनाई जाती थीं और उनका प्रयोजन भारतीय और विदेशी यात्रियों, तीर्थयात्रियों, सौदागरों, व्यापारियों आदि को कुछ समय के लिए ठहरने की व्यवस्था करना था। दरअसल ये सरायें आम लोगों के लिए होती थीं और वहां विभिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों वाले लोग कुछ समय के लिए इकट्ठे होते या ठहरते थे। इसके फलस्वरूप आम लोगों के स्तर पर सांस्कृतिक विचारों, प्रभावों, समन्वयवादी प्रवृत्तियों, सामयिक रीति-रिवाजों आदि का आदान-प्रदान होता था।

लोगों के लिए इमारतें

मध्यकालीन भारत का वास्तुकलात्मक अनुभव राजे-रजवाड़ों या शाही परिवारों तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि समाज के सामान्य वर्गों द्वारा और उनके लिए भी सार्वजनिक और निजी तौर पर भवन आदि बनाए गए जिनमें अनेक शैलियों, तकनीकों और सजावटों का मेल पाया जाता है। इन इमारतों में रिहायशी इमारतें, मंदिर, मस्जिदें, खानकाह और दरगाह, स्मृति-द्वार, भवनों के मंडप और बाग-बगीचे, बाजार आदि शामिल हैं।

© NCERT not to be republished

मांडू

© not to be republished

मांडु नगर मध्य प्रदेश में इन्दौर से 60 मील की दूरी पर स्थित है। यह समुद्र तल से 2000 फुट की ऊंचाई पर बसा हुआ है। यहां से उत्तर में मालवा का पठार और दक्षिण में नर्मदा नदी की घाटी नीचे साफ दिखाई देती है। मांडु की स्थिति प्राकृतिक रूप से बहुत सुरक्षित है। उसकी इसी सामरिक विशेषता को देखकर परमार राजपूतों, अफगानों और मुगलों ने इसे अपना आवास बनाया। होशंगशाह द्वारा 1401–1561 ई. में स्थापित गौरी राजवंश की राजधानी के रूप में इस शहर ने काफी मशहूरी पाई। उसके बाद मांडु का इतिहास सुल्तान बाज बहादुर और रानी रूपमती के प्रेम प्रसंगों से जुड़ा रहा। मुगल बादशाह यहां वर्षा ऋतु में भोग-विलास के लिए आया करते थे।

होशंगशाह का मकबरा

उस समय मांडु सरकारी, रिहायशी एवं आनंददायक राजमहलों, मंडपों, मस्जिदों, कृत्रिम जलाशयों, बावलियों, लड़ाई के समय रक्षा के लिए बनाई गई बुर्जों, फसीलों आदि का मिला-जुला रूप था। अपने आकार, विशालता और स्मारकीयता के बावजूद ये भवन प्रकृति की गोद में चापदार मंडपों के रूप में बने थे, यहां वायु तथा प्रकाश की कोई कमी नहीं थी इसलिए इन भवनों में गर्मी नहीं टिक पाती थी। इन भवनों के निर्माण में स्थानीय पत्थर और संगमरमर की सुलभता का लाभ उठाया गया था। मांडु प्रकृति के साथ वास्तुकला के अनुकूलन का एक उत्तम उदाहरण था।

शहर में स्थित शाही बस्ती में ऐशोआराम को ध्यान में रखकर बनाई गईं अनेक शानदार इमारतें, शाही महलों और नौकर-चाकरों के लिए बनाई गईं रिहायशी इमारतें, सरकारी कर्मचारियों के लिए कार्यालय और रिहायशी भवन दो कृत्रिम झीलों के चारों ओर निर्मित थे। हिंडोला महल एक बड़े रेल पुल की तरह दिखाई देता है जिसकी दीवारें बड़े-बड़े असमानुपातिक पुस्तों पर टिकी हुई हैं। यह सुल्तान का दीवाने आम था, जहां आकर सुल्तान अपनी प्रजा को दर्शन दिया करता था। हिंडोला का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए इन दीवारों पर ढाल का बखूबी इस्तेमाल किया गया है।

हिंडोला महल

जहाज महल एक शानदार दो-मंजिली इमारत है जिसकी शक्ल पानी के जहाज जैसी है। यह दो जलाशयों के बीच में स्थित है और इसकी छत, बरामदे, बारजे और मंडप मानों पानी पर लटके हुए हैं। इसे सुल्तान गयासुद्दीन खिलजी ने बनवाया था। वह ऐशोआराम व मन बहलाव के लिए इसे अपने जनानखाने के तौर पर इस्तेमाल करता था। इसमें नहरें व नालियाँ हैं और छत पर तरण-ताल बना हुआ है।

रानी रूपमती का दोहरा महल दक्षिणी प्राचीर पर बना हुआ है जहां से नर्मदा घाटी का अति सुंदर दृश्य दिखाई देता है। बाज बहादुर के राजमहल में विस्तृत आंगन के चारों ओर बड़े-बड़े कक्ष और छज्जे बने हुए हैं।

जहाज महल, मांडु

एक मदरसा जिसे अशरफी महल कहा जाता है, इस समय एक खंडहर की हालत में सुनसान पड़ा है। होशंगशाह का मकबरा एक शानदार इमारत है। इसमें सुंदर गुंबद, संगमरमर की जाली का काम, ड्योढ़ियाँ, प्रांगण, मीनारें और बुर्जे देखने लायक हैं। इसे अफ़गान शैली के पौरुष/मर्दानगी का उदाहरण माना जाता है लेकिन इसका जालीदार काम, उकेरे हुए टोड़े और तोरण निर्माण कार्य की कोमलता प्रकट करते हैं।

मांडु की जामा मस्जिद जुम्मे (शुक्रवार) की नमाज़ के लिए बड़ी संख्या में इकट्ठे होने वाले नमाज़ियों के लिए बनाई गई थी। इसके भीतर जाने के लिए एक बहुत बड़ा दरवाजा बना हुआ है जिसकी चोटी पर एक सिमटा गुंबद है। दरवाजे से घुसने पर एक बड़ा खुला सहन आता है जिसके तीन तरफ इबादत के लिए बंद कक्ष हैं जिन पर छोटे गुंबद बने हुए हैं। इमारत का सामने का हिस्सा लाल बलुआ पत्थर का बना है। किबला लिवान में बना मिमबर उकेरे हुए टोड़ों पर टिका है और मेहराब कमल कली की पंखुड़ी जैसा है।

यदि स्थानीय परंपराओं का साहसिक उल्लेख करें तो यह कहा जा सकता है कि मांडु की प्रान्तीय शैली की वास्तुकला, दिल्ली के शाही भवनों की कला के बहुत नजदीक है। तथापि, माण्डु की वास्तुकला की तथाकथित पौरुषपूर्ण और आडंबरहीन शैली, जिसमें फर्शी जालियाँ, उकेरे गए टोड़े और संरचनाओं का हल्कापन पाया जाता है, इण्डो-इस्लामिक वास्तुकलात्मक अनुभव की कहानी का एक महत्वपूर्ण अध्याय है।

मांडु की जामा मस्जिद

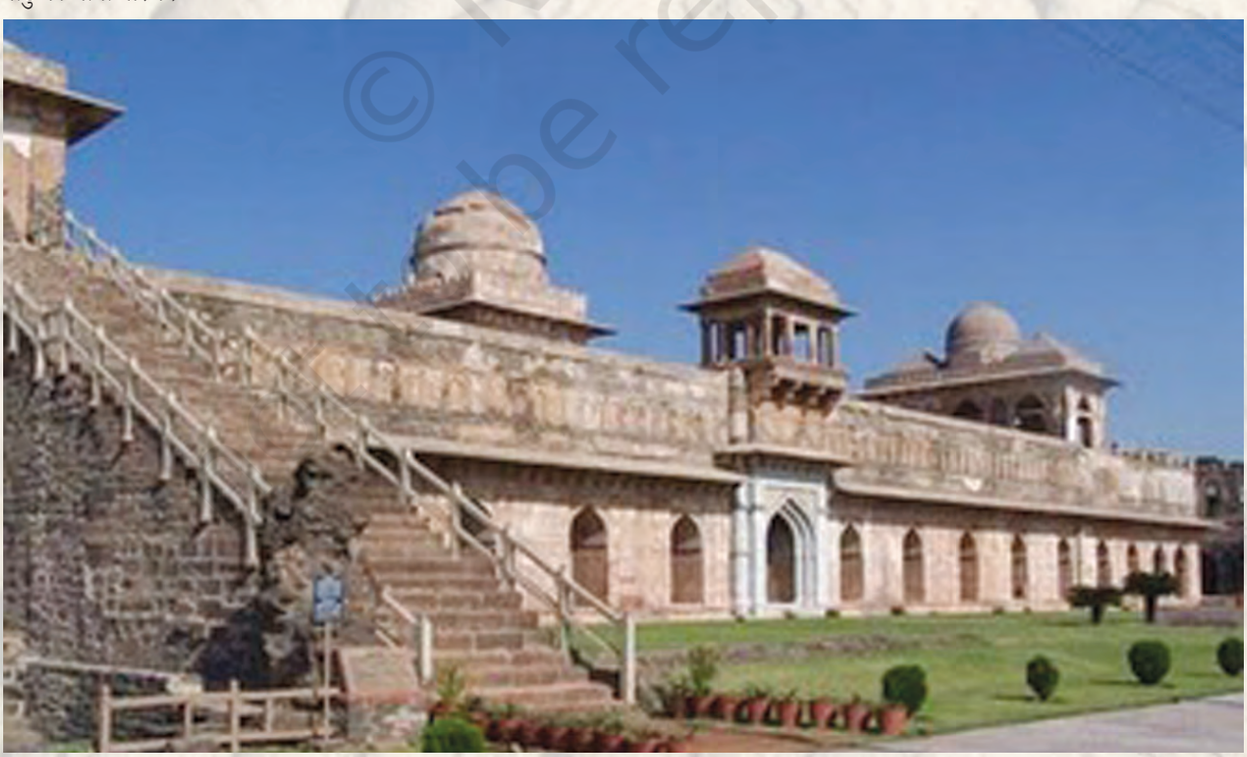

© NCERT not to be republished

ताजमहल

1632 से इस स्मारक के निर्माण में लगभग
20 साल तक 20 हज़ार कामगारों ने काम किया।